अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सरस्वत्यादयः। छन्दः—भुरिक्शाक्वरी[क], निचृदतिशाक्वरी[ख]।
स्वरः—धैवतः॥

[क]शाद॑ द॒द्भिरव॑कां दन्तमू॒लैर्मृद॒ बस्वै॑स्ते॒गान्द॑ꣳष्ट्रा॒भ्या॒ꣳसर॑स्वत्याऽ अग्र॒जिह्व॑ जि॒ह्वाया॑ऽउत्सा॒दम॑वक्र॒न्देन॒ तालु॑ वाज॒ꣳहनु॑भ्याम॒पऽआस्ये॑न वृष॑णमा॒ण्डाभ्या॑मा॒दित्याँ श्मश्रु॑भिः॒ पन्था॑नं भ्रू॒भ्यां द्यावा॑पृथि॒वी वर्त्तो॑भ्यां वि॒द्युत॑ कनी॑नकाभ्या॒ꣳशुक्ला॑य॒ स्वाहा॑ कृ॒ष्णाय॒ स्वाहा॒ पार्या॑णि॒ पक्ष्मा॑ण्यवा॒र्या॑ऽइक्षवो॑ऽवा॒र्या॑णि॒ पक्ष्मा॑णि॒ पार्या॑ऽइक्षवः॥१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राणादयः। छन्दः—भुरिगतिशाक्वर्यौ। स्वरः—धैवतः।

वात॑ प्रा॒णेना॑पा॒नेन॒ नासि॑केऽउपया॒ममधरे॒णौष्ठे॑न॒ सदु॑त्त॒रेण॒ प्रका॒शेनान्त॑रमनू॒का॒शेन॒ बाह्य॑ निवे॒ष्यं मू॒र्ध्ना स्त॑नयि॒त्नु नि॑र्बा॒धेना॒शनि॑ म॒स्तिष्के॑ण वि॒द्युत॑ कनी॑नका॒भ्यां॒ कर्णा॑भ्या॒ꣳश्रोत्र॑ꣳश्रोत्रा॑भ्यां॒ कर्णौ॑ तेद॒नीम॑धरकण्ठे॒नाप॒ शु॑ष्ककण्ठे॒न॑ चि॒त्त॑ मन्या॑भिरदि॑तिꣳशी॒र्ष्णा नि॑र्ऋ॒ति॑ नि॑र्ज॑ल्येन शी॒र्ष्णा सं॑क्रो॒शैः॒ प्रा॒णान् रे॒ष्माण॑ꣳ स्तु॒पेन॑॥२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः।

म॒शका॒न् केशै॒रिन्द्र॑ꣳस्वप॒सा व॒हेन॒ बृह॒स्पति॑ꣳशकुनि॒सादे॑न कू॒र्माञ्छफै॒राक्र॑मण॒ꣳ स्थूरा॑भ्यामृक्ष॒लाभि॒ः क॒पिञ्ज॑लाञ्जव॑ जङ्घा॒भ्या॒मध्वा॑न॑ बा॒हुभ्या॑ जाम्बी॒लेना॑र॒ण्यम॒ग्नि॑म॑ति॒रुग्भ्या॑ पू॒षण॑ दो॒र्भ्या॒म॒श्विना॑वꣳसा॒भ्या॒ꣳरु॒द्रꣳरो॑रा॒भ्याम्॥३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—स्वराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः।

अ॒ग्नेः प॑क्ष॒ति॑र्वा॒योर्नि॑प॑क्ष॒ति॑रिन्द्र॑स्य तृ॒तीया॒ सोम॑स्य च॒तुर्थ्य॑दि॑त्यै पञ्च॒मीन्द्रा॒ण्यै ष॒ष्ठी म॒रुता॑ꣳसप्त॒मी बृह॒स्पते॑रष्ट॒म्यर्य॒म्णो न॑व॒मी धा॒तुर्द॑श॒मीन्द्र॑स्यैकाद॒शी व॒रु॑णस्य द्वाद॒शी य॒मस्य॑ त्रयोद॒शी॥४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—स्वराड्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः।

इ॒न्द्रा॒ग्न्योः प॑क्ष॒तिः सर॑स्वत्यै॒ नि॑प॑क्ष॒ति॑र्मि॒त्रस्य॑ तृ॒तीया॒पां च॑तु॒र्थी नि॑र्ऋ॒त्यै प॒ञ्च॒म्य॒ग्नीषो॑मयोः ष॒ष्ठी स॒र्पाणा॑ꣳसप्त॒मी विष्णो॑रष्ट॒मी पू॒ष्णो न॑व॒मी त्वष्टु॑र्दश॒मीन्द्र॑स्यै॒काद॒शी व॒रु॑णस्य द्वाद॒शी य॒म्यै त्र॑योद॒शी द्यावा॑पृथि॒व्योर्द॑क्षि॒ण पा॒र्श्व॑ विश्वे॑षा दे॒वाना॒मुत्त॑रम्॥५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मरुतादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

मरुताꣳस्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पतीऽऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणꣳस्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम् ॥६॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पूषादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

पूष्णो वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विहुतऽआन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनꣳशेपेन प्रजाꣳरेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः॥७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भसज्जीमूतान् हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता नभऽउदर्य्येण चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान् क्लोमभिर्गलौभिर्गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्हृदान् कुक्षिभ्याꣳ समुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना॥८॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पूषादयः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**धैवतः**।

विधृतिं नाभ्या घृतꣳरसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वाऽअश्रुभिर्हादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाꣳसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा॥९॥

२३वें अध्याय की समाप्ति पर 'विश्वा रूपाणि' का उल्लेख था। इसकी व्याख्या सम्पूर्ण २४वें अध्याय में ६०९ पशुओं के अश्वमेघ यज्ञ में बन्धन करने के वर्णन से हुई है। २५वें अध्याय के प्रारभिक नौ मन्त्रों में राष्ट्र-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन हुआ है। इस उत्तम राष्ट्र में निवास करते हुए हम प्रभु की उपासना से अपने जीवनों को और भी उत्तम बनाएँ, अतः मन्त्र में प्रभु-उपासना निम्न प्रकार से की गई है—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**हिरण्यगर्भः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपासना

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०॥

१. **हिरण्यगर्भः**='हिरण्यं वै ज्योतिः' सम्पूर्ण ज्योति जिनके गर्भ में हैं, वे प्रभु अथवा आदित्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभु **अग्रे**=इस सृष्टि के बनने से पहले ही **समवर्त्तत**=थे। वे प्रभु कभी सृष्ट नहीं हुए, बने नहीं। वे स्वयम्भू हैं, खुदा हैं। २. **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुए वे प्रभु **भूतस्य**=इस सृष्टि के मौलिक कारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक पञ्च भूतों के तथा प्राणिमात्र के **एकः पतिः**=मुख्य तथा अकेले ही रक्षक **आसीत्**=हैं। इन सबका रक्षण प्रभु पर ही आश्रित है। इस रक्षणरूप कार्य में वे प्रभु किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ३. **सः**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। इस लोकत्रयी को धारण करने के कारण ही वे 'त्रिविक्रम'

कहलाते हैं। ४. सबका धारण करने के कारण **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब सुखों को देनेवाले के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं। उस सब-कुछ देनेवाले प्रभु की अर्चना देकर खाने से ही तो हो सकती है। यह देकर खानेवाला व्यक्ति सदा यज्ञशेष का सेवक व्यक्ति प्रजा की रक्षा करनेवाला होने से 'प्रजापति' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—वे हिरण्यगर्भ प्रभु सदा से हैं, सबके अद्वितीय रक्षक हैं—त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। हम उस आनन्दस्वरूप, सर्वप्रद व ज्योतिर्मय प्रभु की ही उपासना करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दर्शन

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥११॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करते हुए, अर्थात् चेतन प्राणियों के तथा **निमिषतः**=सदा पलकों को बन्द किये हुए, अर्थात् दीर्घनिद्रा में लेटे हुए वृक्षादि स्थावर **जगतः**=जगत् का, अर्थात् इस चराचर (Movable तथा Immovable) संसार का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा बभूव**=नियन्त्रण करनेवाला है। और २. **यः**=ये **अस्य**=इस **द्विपदः चतुष्पदः**=दोपाये व चौपायों का, अर्थात् पक्षियों व पशुओं का **ईशे**=ईश है, इनके अन्दर स्थापित ऐश्वर्य का मालिक है, अर्थात् जिसने मानव को शिक्षा देने के लिए उस-उस पशु व पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को स्थापित किया है। चीलों की उड़ान को देखकर ही मानव ने वायुयान को बनाने की शिक्षा प्राप्त की। इसी प्रकार इन पशु-पक्षियों में प्रभु द्वारा स्थापित ऐश्वर्य का दर्शन होता है। इस ऐश्वर्य के दर्शन से आकर्षित हो हम उस स्थापन करनेवाले प्रभु का ध्यान करते हैं। ३. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—चराचर संसार के नियामक वे प्रभु ही हैं। सब पशु-पक्षियों में दृश्यमान ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है। उस सुखस्वरूप सर्वज्ञ प्रभु का हम वस्तुओं के त्यागपूर्वक प्रयोग से पूजन करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

महिमा

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳरसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१२॥

१. **इमे**=ये **हिमवन्तः**=हिमाच्छादित पर्वत **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा को **आहुः**=कहते हैं **रसया सह**=इस सम्पूर्ण रसमय फलों व अन्नों को जन्म देनेवाली पृथिवी के साथ **समुद्रम्**=समुद्र **यस्य (महित्वा) आहुः**=जिसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। **इमाः**=ये **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ भी **यस्य**=जिसकी महिमा का वर्णन करती हैं तथा **यस्य**=जिसके **बाहू**=(बाह प्रयत्ने) चराचर द्विविध जगत् के निर्माणात्मक प्रयत्न उसकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ३. उस **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=सर्वानन्दप्रद प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों को देखकर, विविध रसों से परिपूर्ण फल-फूलोंवाली इस पृथिवी को देखकर, अनन्तप्राय जलराशिवाले समुद्र को देखकर, इन विस्तृत दिशाओं को देखकर तथा चर व अचर विविध जगत् के निर्माण-प्रयत्नों को देखकर किस द्रष्टा को प्रभु की महिमा का स्मरण नहीं होता? कोई अचर ही होगा जिसे इन वस्तुओं को देखकर भी प्रभु का स्मरण न हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिटुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमृतम्

यऽआत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१३॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने कि **आत्मदाः**='आत्मानं ददाति इति—द०' जीवहित के लिए अपने को दे डाला है, अर्थात् वे प्रभु निरन्तर जीवों के हित में तत्पर हैं—उनकी अपनी आवश्यकता शून्य है। स्वयं वे पूर्ण हैं, अतः उन्हें अपने लिए कुछ भी करना नहीं है। २. **बलदाः**=वे बल देनेवाले हैं। जीवहित को सिद्ध करने के लिए वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। इस सामर्थ्य से सम्पन्न होकर जीव ने अपनी उन्नति सिद्ध करनी है। ३. वस्तुतः **विश्वे**=संसार में प्रविष्ट सभी प्राणी **यस्य उपासते**=जिसकी उपासना करते हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो कष्ट पड़ने पर प्रभु का स्मरण न करे। सुख में भी अविकृत वृत्तिवाले लोग प्रभु का कीर्तन करते ही हैं, दुःख आने पर दुःखापहरण के लिए प्रभु-कीर्तन चलता है। ४. परन्तु **देवाः**=देव लोग **यस्य प्रशिषं उपासते**=जिसकी आज्ञा की उपासना करते हैं। वे प्रभु के गुणगान में ही सारा समय समाप्त न करके उसके आदेश के अनुसार 'पठन, पाठन व प्रचार' के कार्य में लगकर ही उसकी पूजा करते हैं। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य** ५. **यस्य छाया**=जिस प्रभु का किया हुआ छेदन-भेदन (छोड़ देने) अर्थात् अंगविकार भूकम्पादि दण्ड **अमृतम्**=जीव की अमरता के लिए है। **यस्य मृत्युः**=(अमृत) प्रभु द्वारा प्राप्त कराई गई यह मृत्यु भी अमरता के लिए है। ये सब इसलिए ही प्रभु से दी जाती हैं कि हम विषयों व वासनाओं के पीछे मरते न फिरें। इनके पीछे भागते रहकर हम अपने को मार ही लेंगे, अतः प्रभु कृपा करके ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि हम विषयवासनाओं में जा फँसने से बच जाते हैं। ६. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=ज्योतिर्मय सर्वज्ञ प्रभु के लिए **हविषा**=यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण व आप्तकाम हैं। उन्हें अपने लिए कुछ नहीं करना—उन्होंने अपने को जीवहित के लिए दे डाला है। उनके सब कार्य जीव को उन्नति-साधन प्राप्त करने के लिए हैं। वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। सामान्य लोग इस प्रभु का गुणगान करते हैं तो समझदार प्रभु के आदेशों के अनुसार कार्य करने का ध्यान करते हैं। प्रभु से दिये गये दण्ड व मृत्यु भी जीव की अमरता के लिए साधन बनते हैं। इस प्रभु का पूजन त्यागपूर्वक उपभोग से ही सम्भव है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

भद्र क्रतु

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥१४॥

१. **नः**=हमें **क्रतवः**=यज्ञ व सङ्कल्प **आयन्तु**=सवर्था प्राप्त हों। कैसे यज्ञ व सङ्कल्प? क. **भद्राः**=कल्याणकारी और सुख देनेवाले, ख. **विश्वतः अदब्धासः**=सब ओर से अहिंसित, अर्थात् पूर्णरूप से निर्विघ्न ग. **अपरीतासः**=(न परीता अज्ञाताः), अर्थात् जो फलानुमेय हैं, पूर्ण हो जाने पर ही जिनका पता लगता, है, पहले जिनका ढिंढोरा नहीं पीट दिया गया। घ. **उद्भिदः**=(उद्भिन्दन्ति यज्ञान्तराणि प्रकटयन्ति) अन्य यज्ञों को प्रकट करनेवाले, अर्थात् परस्पर अनुबन्धरूप से चलनेवाले—एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा—इस प्रकार निरन्तर चलनेवाले अथवा विकास के कारणभूत। इस प्रकार के यज्ञ व सङ्कल्प हमें निरन्तर प्राप्त हों। २. क. हम इसलिए उल्लिखित प्रकार से उत्तम कर्मों में लगे रहें **यथा**=जिससे कि **देवाः**=सब देव, सब प्राकृतिक शक्तियाँ: **सदम्**=सदा **इत्**=ही **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **असन्**=हों। हमारे कर्मों के दूषित होने पर ही आधिदैविक आपत्तियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। कर्म उत्तम होने पर सूर्य-चन्द्रादि सभी देव अनुकूल होते हैं (ख) 'देवाः' शब्द का अभिप्राय 'दिव्य वृत्तिवाले विद्वान्' भी है। वे विद्वान् भी सदा हमारी वृद्धि का कारण बनें। ये देव, वे विद्वान् **अप्रायुवः**=**(प्रकर्षेणायुवन्ति अमाषन्ति)** प्रमाद से रहित हों, जनहित के कार्यों में इन्हें किसी प्रकार का आलस्य न हो और वे **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **रक्षितारः**=सब प्रकार के अशुभों से हमारी रक्षा करनेवाले हों। सूर्यचन्द्र आदि हमारे शरीरों को नीरोग बनाएँ और विद्वान् लोग हमारे मनों व मस्तिष्कों को स्वस्थ बनाएँ।

भावार्थ—हमें उत्तम कर्म व सङ्कल्प प्राप्त हों। देव हमारी वृद्धि का कारण बनें। आलस्य से ऊपर उठकर दिन-प्रतिदिन वे प्रजा-रक्षण के कार्य में लगे रहें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'सुमति व राति'=देवसख्य

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳरातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानाꣳसख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥१५॥

१. **ऋजूयताम्**=क. **ऋजुगामिनाम्**=सदा सरल मार्ग से चलनेवाले ख. **ऋजुकामिनाम्**=सदा सरलता को चाहनेवाले **देवानाम्**=देवों की **भद्रा सुमतिः**=कल्याण व सुख को करनेवाली शोभनमति **नः**=हमें **अभिनिवर्त्तताम्**=अभिमुख्येन प्राप्त हो, अर्थात् हम भी देवों की भाँति सरल मार्ग से चलनेवाले व सरलता की कामना करनेवाले बनें। २. **देवानाम्**=देवों की **रातिः**=दानवृत्ति भी **नः**=हममें **अभिनिवर्तताम्**=अभिमुख प्रवृत्त हो, अर्थात् देवों की भाँति हम भी सदा देनेवाले बनें। ३. इस प्रकार देवों की सुमति तथा राति को प्राप्त करके **वयम्**=हम **देवानाम्**=देवों के **सख्यम्**=मित्रभाव को **उपसेदिम**=प्राप्त करें। उन-जैसा बनकर ही तो हम उनके सच्चे मित्र हो सकेंगे। ४. ऐसा होने पर **देवाः**=देव **नः आयुः**=हमारे जीवन को **जीवसे**=चिर जीवन के लिए **प्रतिरन्तु**=बढ़ाएँ। वस्तुतः 'सुमति व राति' दोनों ही दीर्घजीवन के लिए आवश्यक हैं। मस्तिष्क की कुमति अल्पायुष्य का प्रबल कारण बनती है। मन की अनुदारता भी उसी प्रकार आयुष्य को छोटा करती है, अतः हम सुमति व राति को प्राप्त करके दीर्घजीवन को सिद्ध करें। इस दीर्घजीवन के लिए 'देवों की मित्रता' अत्यधिक महत्त्व रखती है।

भावार्थ—हमें देवों की 'सुमति' प्राप्त हो। देवों की भाँति हम 'दानवृत्ति' वाले हों तथा देवों की ही हमें 'मित्रता' प्राप्त हो। ये तीनों बातें हमारे दीर्घजीवन का कारण बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देव-हूति

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणꣳसोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥१६॥

१. गतमन्त्र में देवों की मित्रता प्राप्त करने की प्रार्थना थी। उन्हीं देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **तान्**=उन देवों को **पूर्वया**=सृष्टि के आरम्भ में दी गई **निविदा**=(निविदा इति वाङ् नाम—नि० १।११) इस निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणी के हेतु से **वयम्**=हम **हूमहे**=पुकारते हैं, अर्थात् इन विद्वानों को हम इसलिए समीप प्राप्त करना चाहते हैं कि ये हमें उत्तम वेदज्ञान प्राप्त करानेवाले हों। २. किन देवों को? (क) **भगम्**='ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्यरूप भग से युक्त को (ख) **मित्रम्**=(मिद् स्नेहने) सबके साथ स्नेह करनेवाले को तथा (प्रमीतेः त्रायते) पाप से बचानेवाले को (ग) **अदितिम्**=अदीनभाव से युक्त होकर दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाले को अथवा किसी का खण्डन व हिंसन न करनेवाले को (अदीना देवमाता—नि०, न दितिः यस्मात्) (घ) **दक्षम्**=कार्यकुशल को, कर्मयोगी को (ङ) **अस्रिधम्**=न स्रेधते। कभी सद्भाव को नष्ट न होने देनेवाले को (च) **अर्यमणम्**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति=सदा दानशील को (छ) **वरुणम्**=द्वेष का निवारण करनेवाले अतएव श्रेष्ठ को (ज) **सोमम्**=सौम्य स्वभाववाले शान्त को (झ) **अश्विना**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न को अथवा सूर्य-चन्द्र के गुणधर्मों से युक्त को। सूर्य के समान प्रकाशमय तथा चन्द्र के समान आनन्दमय को ३. इन सब देवों को तो हम बुलाते ही हैं। इनके साथ सतत सम्पर्क होने पर **सुभगा**=सब उत्तम भगों को प्राप्त करानेवाली **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नः**=हमारा **मयस्करत्**=कल्याण करे। देवों के सम्पर्क में रहने से हमारा ज्ञान बढ़ता है, उस ज्ञानवृद्धि से हमारा कल्याण होता है।

भावार्थ—हम देवों के सम्पर्क में आकर उनसे ज्ञान प्राप्त करें जो हमारा कल्याण करे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मयोभु भेषज

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम देवों को पुकारते हैं और उनसे निश्चयात्मक श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **नः**=हमें **वातः**=यह निरन्तर गति के द्वारा बुराई का (रोग-कारणों का) संहार करनेवाला वायु (वा गतिगन्धनयोः) **मयोभु**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि **वातु**=प्राप्त कराए, अर्थात् वायु हमारे रोगों का प्रतीकार करके हमें नीरोग व सुखी करनेवाला हो। २. जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **पृथिवी माता**=यह मातृवत् हितकारिणी पृथिवी हमें कल्याणकर औषध को प्राप्त करानेवाली हो। **पिता द्यौः**=पिता की भाँति रक्षक यह द्युलोक भी कल्याणकर औषध को प्राप्त कराए। जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं ३. **तत्**=तब **सोमसुतः**=सोम का अभिषव करनेवाले **ग्रावाणः**=ये पत्थर भी सोमरस के प्रापण के द्वारा **मयोभुवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हों, अर्थात् सोमयज्ञों के अन्दर सोमपान करते हुए हम अपने शरीरों को शान्त—शक्ति से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करें अथवा सौम्यता को जन्म देनेवाले ज्ञानी (आचार्य) हमारे लिए ज्ञान

देते हुए कल्याण करनेवाले हों। ४. **तत्**=ज्ञान प्राप्त करने पर **धिष्ण्या**=गृह की भाँति धारण करनेवाले **अश्विना**=हे प्राणापानो! **युवम्**=तुम दोनों भी हमारी 'मयोभु भेषज' की प्रार्थना को **शृणुतम्**=सुनो। तुम्हारी कृपा से हमारे शरीर, मन व बुद्धि सभी नीरोग, निर्मल व तीव्र बनें। हम प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनें—प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हों।

भावार्थ—जब हम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब वायु, पृथिवी, द्युलोक, सोमाभिषव करने में उपयुक्त ग्रावाणा अथवा अधिक सौम्यता को जन्म देनेवाले उपदेष्टा गुरु—ये सब हमें कल्याणकर औषध प्राप्त कराते हैं और प्राणापान हमारे लिए सर्वोत्तम औषध बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ईशान का आह्वान

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥१८॥

१. **वयम्**=हम **अवसे**=रक्षा के लिए—शरीर की रोगों से रक्षा के लिए तथा मन की द्वेषादि मलों से रक्षा के लिए—**तं ईशानम्**=उस ईशान करनेवाले रुद्र प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं, यतः प्रभु ही **जगतः तस्थुषः पतिम्**=जंगम व स्थावर जगत् के पति हैं, इस सम्पूर्ण चराचर संसार के रक्षक हैं तथा **धियञ्जिन्वम्**=बुद्धि को प्रीणित करनेवाले हैं। हमारी बुद्धियों को शुद्ध करनेवाले हैं (द०)। २. इस ईशान के आह्वान को हम सदा ही किया करें **यथा**=जिससे **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला वह प्रभु **नः**=हमारे **वेदसाम्**=धनों के **वृधे**=वर्धन के लिए **असत्**=हों। **रक्षिता**=वह हमारा रक्षण करनेवाला हो, हमें आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से बचाये (resque) तथा **पायुः**=हमें काम-क्रोधादि के आक्रमणों से भी बचानेवाला हो। **अदब्धः**=कामादि से कभी हिंसित न होनेवाला वह ईशान हमारे **स्वस्तये**=कल्याण व उत्तम स्थिति के लिए हो। हम प्रभु की उपासना करनेवाले होंगे तो काम हमपर कभी आक्रमण न करेगा।

भावार्थ—ईशान का आह्वान हमारे शरीर व मानस रक्षा का कारण बने तथा हमें पोषण के लिए आवश्यक धनों की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

स्वस्ति का साधन

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥१९॥

१. **नः**=हमारे लिए **वृद्धश्रवाः**=सदा से बढ़े हुए ज्ञानवाला **इन्द्रः**=बलवान् व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाला हो, अर्थात् प्रभु की कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और उस प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में सब वासनाओं का दहन होकर हमें वास्तविक शान्ति का लाभ हो और हमारी जीवन-स्थिति उत्तम हो। २. **नः**=हमारे लिए **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनों का स्वामी **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु पोषण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ **स्वस्ति**=कल्याणकर हो, अर्थात् प्रभुकृपा से हम पुरुषार्थ करते हुए आवश्यक धनों की प्राप्ति के द्वारा जीवन की स्थिति को उत्तम कर सकें। ३. **नः**=हमारे लिये **तार्क्ष्यः**=(तृक्ष गतौ) गति में उत्तम=स्वाभाविक क्रियावाला पूर्णरूप से निःस्वार्थ क्रियावाला, **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित मर्यादावाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याणकर

हो। हम भी उस प्रभु की तरह सतत व निःस्वार्थ गतिवाले बनकर सदा मर्यादा में चलते हुए कभी हिंसित न हों और इस मर्यादित जीवन में कल्याण प्राप्त करें। ४. **नः**=हमारे लिए **बृहस्पतिः**=बृहत् (बड़े) आकाशादि का पति वह प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण को **दधातु**=धारण करे। हम भी 'बृहस्पति' प्रभु की उपासना करते हुए 'बृहस्पति' बनें, उदार हृदयाकाशवाले बनें। यह उदारता हमें कृपण (miser) की कृपणता (misery) से ऊपर उठाकर कल्याणमय स्थिति में प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए (क) वृद्ध ज्ञानवाले व काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें, (ख) पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त करें, (ग) निरन्तर क्रियाशील जीवन बिताते हुए कभी मर्यादा का उल्लंघन न करें। (घ) उदारहृदय बनकर कल्याण को सिद्ध करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

देवों का आतिथ्य

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवाऽअवसागमन्निह॥२०॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार हमारी स्थिति कल्याणमयी हो', इसी दृष्टिकोण से हम प्रस्तुत मन्त्र में चाहते हैं कि **विश्वेदेवाः**=सब देव—दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् लोग **अवसा**=अन्न के हेतु से, अर्थात् हमारा आतिथ्य स्वीकार करने के हेतु से यहाँ **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। उन देवों के समय-समय पर घरों में आते रहने से घर का वातावरण सुन्दर बना रहता है। २. ये देव कैसे हैं? क. **पृषदश्वाः** (पृषु सेचने, पुष्ट्यादिना संसिक्ताङ्गः-द०)=इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्टि से संसिक्त हैं। इनका जीवन भोगमय न होने से इनके सब अङ्ग सुगठित हैं। (क) **मरुतः**=(प्राणाः) ये प्राणशक्ति के पुञ्ज हैं। (ख) **पृश्निमातरः**=(पृश्नि=a ray of light) प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाले हैं। इनके मस्तिष्क ज्ञान-किरणों से दीप्त हैं। (ग) **शुभंयावानः**=शुभमार्ग पर चलनेवाले हैं, अतएव कल्याण को प्राप्त करने व करानेवाले हैं (घ) **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **जग्मयः**=सदा जानेवाले हैं। (ङ) **अग्निजिह्वाः**=(अग्निरिव सुप्रकाशितवाणी येषां—द०) अग्नि के समान प्रकाशमय वाणीवाले अथवा जिनके मुख से निकले हुए शब्द प्रगति का साधन हैं, उत्साह का वर्धन करनेवाले हैं, मृत आन्दोलन में फिर से गर्मी ला देनेवाले हैं। (च) **मनवः**=जो बड़े मननशील हैं, विद्वान् व समझ से चलनेवाले हैं। (छ) **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान दृष्टिवाले हैं। जिनकी दृष्टि अज्ञानान्धकार को उसी प्रकार नष्ट करनेवाली है जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को। ३. इस प्रकार के विद्वान् हमारे घरों पर समय-समय पर आते रहेंगे तो उनकी ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को परिशुद्ध बनानेवाली होंगी, अतः प्रभुकृपा से इन देवों का हमारे घरों पर आना होता ही रहे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें देवों के आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे, जिससे हमारे जीवनों में ज्ञान व उत्साह का सञ्चार सदा अविच्छिन्न रूप से हो सके।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपदेश के विषय

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२१॥

१. **देवाः**=हे ज्ञान-ज्योति-देनेवाले विद्वानो! आपकी उपदेश-वाणियों से प्रेरित होकर हम **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रम्**=कल्याण व सुखकर शब्दों को ही **शृणुयाम**=सुनें। हम निन्दात्मक बातों को सुनने की रुचि से ऊपर उठ जाएँ। २. हे **यजत्राः**=(यज+त्रा) अपने ज्ञानदान से त्राण करनेवाले विद्वानो! हम **अक्षभिः**=प्रभु से दी गई इन आँखों से **भद्रम्**=शुभ को ही **पश्येम**=देखें। हम कभी किसी की बुराई को देखें ही नहीं। शहद की मक्खी की भाँति सब स्थानों से रस ही लेने का प्रयत्न करें। मल का ग्रहण करनेवाली मक्खी न बन जाएँ। हंस की भाँति द्वेष जल को छोड़कर गुणरूप दूध का ही ग्रहण करें। एवं, शुभ ही सुनें और शुभ ही देखें और ३. परिणामतः शरीर-शक्तियों को जीर्ण न होने देते हुए **स्थिरैः अङ्गैः**=दृढ़ अंगों से तथा **तनूभिः**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीरों से **तुष्टुवांसः**=सदा प्रभु का स्तवन करते हुए उस आयु को **व्यशेमहि**=व्याप्त करें **यत् आयुः**=जो जीवन, जो आयु **देवहितम्**=देव की उपासना के योग्य है, अर्थात् जो अपने कर्त्तव्यों के करने के द्वारा प्रभु की अर्चना में बीतता है।

भावार्थ—देवों से प्रेरणा प्राप्त कर हम कानों से भद्र ही सुनें। आँखों से भद्र ही देखें तथा स्थिर अङ्गोंवाले शरीरों से प्रभु का स्तवन करते हुए देवोपासनयोग्य जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सौ वर्ष तक

शतमित्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥२२॥

१. हे **देवाः**=देवो! **शतं शरदः इत्**=सौ वर्षों तक निश्चय से **अन्ति**=आप हमारे समीप होंवें, अर्थात् हमें आजीवन आपका सङ्ग प्राप्त होता रहे। २. उस समय तक हमें आपका सङ्ग प्राप्त रहे **यत्र**=जहाँ से ये सब सूर्यादि देव **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों के **जरसम्**=वार्धक्य को **चक्र**=कर देते हैं, अर्थात् वृद्धावस्था में भी हम आपके सत्संग में सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें। उस समय भी हमें स्वयं पर्याप्त अनुभवी हो जाने का गर्व न हो जाए। ३. हम उस समय भी आपके सत्संग के अभिलाषी बने रहें **यत्र**=जबकि **पुत्रासः**=पुत्र भी **पितरः**=पिता **भवन्ति**=बन जाते हैं, अर्थात् पुत्रों की भी सन्तान हो जाने पर जब हम पौत्रोंवाले हो जाते हैं और पितामह कहलाते हैं, उस समय भी हमें आपके सङ्ग करने का सौभाग्य प्राप्त हो। उस समय आप देवों की प्रेरणा हमारे जीवन में ज्ञान व उत्साह को सञ्चरित करनेवाली होगी। ४. आपकी प्रेरणा व ज्ञानज्योति द्वारा मार्ग-प्रदर्शन से **नः आयुः**=हमारा जीवन **गन्तोः मध्याः**=लक्ष्य-स्थान के बीच में ही, अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचे बिना ही **मा रीरिषत**=मत नष्ट हो जाए। हम इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुँच सकें और यात्रा को पूर्ण कर मोक्ष-लाभ करनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे वृद्धावस्था में भी शरीर के लिए भोजन आवश्यक होता है उसी प्रकार मानस पोषण के लिए देवों की प्रेरणाएँ भी आवश्यक होती हैं। इन प्रेरणाओं से हम मार्ग में नहीं रुक जाते, अपितु पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**द्यौरित्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आदित्य

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवाऽअदितिः पञ्च जनाऽअदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥२३॥

१. गतमन्त्र की **'मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तः'** प्रार्थना की पूर्ति के लिए कहते हैं कि **द्यौः**=यह द्युलोक **अदितिः**=मेरा खण्डन करनेवाला न हो। इस द्युलोक के साथ मेरा युद्ध न हो, यह मेरे साथ शान्ति में हो। 'द्यौः शान्तिः' यही प्रार्थना यहाँ शब्द परिवर्तन के साथ 'अदितिः द्यौः' इस रूप में हुई है। जब ये बाह्य जगत् जल, वायु आदि देव हमारे अनुकूल नहीं होते और हम इनके साथ युद्ध की स्थिति में होते हैं तब हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और हम रोगाक्रान्त हो जाते हैं। २. **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाला न हो। द्युलोक का मुख्य देवता 'सूर्य' हमारे लिए शान्तिकर होकर तपे (शं नस्तपतु सूर्यः) और अन्तरिक्षलोक का मुख्य देवता वायु भी हमारे लिए शान्तिकर होकर बहे (शं नो वातः पवताम्)। ३. **माता**=यह पृथिवी माता भी हमारा **अदितिः**=खण्डन करनेवाली न हो। इस पृथिवी पर बहनेवाले जल व इससे उत्पन्न होनेवाली ओषधियाँ हमारे लिए स्वास्थ्यकर हों **'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु'**। ४. **सः**=वह हमारा **पिता**=पितृस्थानापन्न आकाश **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो और **सः** वह **पुत्रः**=आकाश का पुत्रतुल्य सूर्य **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो अथवा **सः पिताः सः पुत्रः**=वह पिता और वह पुत्र दोनों मेरा खण्डन करनेवाले न हों। मैं कभी पिताजी का क्रोधपात्र न हो जाऊँ तथा पुत्रों का ठीक प्रकार से शिक्षण करता हुआ मैं उनके अविनयादि से परेशानी को प्राप्त न करूँ। ५. **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **अदितिः**=हमारा खण्डन न करनेवाले हों तथा संसार की सब आधिदैविक शक्तियाँ हमारे अनुकूल हों। ६. **पञ्चजनाः**=राष्ट्र के 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा निषाद' ये पाँचों-के-पाँचों **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाले न हों। सबके साथ हमारी अनुकूलता हो। ७. **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए सन्तान व पदार्थ **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों तथा **जनित्वम्**=भविष्य में होनेवाले सन्तान तथा पदार्थ भी **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों।

भावार्थ—तीनों लोक तथा घर के मुख्य व्यक्ति राष्ट्र के सब देव व जनता, भूत, भविष्य में होनेवाले पदार्थ व व्यक्ति सभी हमारे अनुकूल हों। इनकी अनुकूलता हमारे अखण्डन व स्वास्थ्य के लिए हो। सारी प्रजा मेरे स्वास्थ्य के लिए हो। मैं भी 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**मित्रादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्रवचन

मा नो मित्रो वरुणोऽअर्यमायुरिन्द्रऽऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि॥२४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों व लोकवासियों की अनुकूलता प्राप्त करके यह व्यक्ति प्रार्थना करता है कि **मित्रः**=स्नेह का देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण का देवता, **अर्यमा**=दातृत्व, **आयुः**=(इ गतौ) गतिशीलता, **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व, **ऋभुक्षाः**=महत्ता अथवा (ऋतेन भान्ति इति ऋभवः, क्षि गति, ऋत=regularity=नियमितता से दीप्त होकर चलना, तथा **मरुतः**=प्राण **नः**=हमें **मा परिख्यन्**=मत छोड़ें। ये उत्तम बातें व दिव्य गुण हमारा परित्याग न करें, २. **यत्**=क्योंकि हम तो **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **वाजिनः**=सर्वशक्तिमान् **देवजातस्य**=देव लोगों से हृदय में आविर्भूत किये गये **सप्तेः**=सबमें समवेत (षप समवाये) अर्थात् प्राणिमात्र में व भूतमात्र में निवास करनेवाले उस प्रभु के **वीर्याणि** शक्तिशाली कर्मों का **प्रवक्ष्यामः**=प्रवचन करेंगे। यह प्रभु के कर्मों का प्रवचन ही वस्तुतः मानव-जीवन को शुद्ध बनाये रखता है। ज्ञानयज्ञों में एकत्र होकर हम शक्तिशाली, सब देवों में प्रादुर्भूत, सर्वत्र

समवेत प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। उस समय ये सब देव हमारा आश्रय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे देव हमें त्याज्य न समझें। प्रभु का स्मरण हमें दिव्य गुणयुक्त बनाए।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शुद्ध धन-शुद्ध अन्न

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूपऽइन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥२५॥

१. **यत्**=जब **निर्णजा**=शुद्ध, अर्थात् शुद्ध उपायों से कमाये हुए **रेक्णसा**=धन से **प्रावृतस्य**=आच्छादित पुरुष के **गृभीतां रातिम्**=ग्रहण किये हुए दान को **मुखतः**=मुख्यरूप से अथवा आरम्भ मे ही **नयन्ति**=ले-जाते हैं। इस दान देनेवाले पुरुष के लिए वह प्रभु २. **सुप्राङ्**=(सु प्र आङ्) उत्तमता से खूब आगे ले-चलनेवाले होते हैं। **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा इसकी सब बुराई को दूर फेंकनेवाले होते हैं। **मेम्यत्**=(भृशं हिंसन् ऋ० १.१६२.—द०) सब काम-क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाले व (प्राप्नुवन्—द०) इसे प्राप्त होनेवाले होते हैं। **विश्वरूपः**=इसके लिए सब आवश्यक ज्ञानों का निरूपण करनेवाले होते हैं। ३. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में यह स्पष्ट है कि (क) यदि हम शुद्ध उपायों से धन कमाते हैं और (ख) दान देते हैं तो (ग) हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। केवल प्रभु-प्राप्ति नहीं होती, अपितु ४. यह प्रभु का प्रिय **इन्द्रापूष्णोः प्रियम्**=इन्द्र और पूषा के प्रिय **पाथः अप्येति**=अन्न को भी प्राप्त करता है, अर्थात् इसे वह अन्न प्राप्त होता है जो उसे इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, जितेन्द्रिय बनाता है और **पूषा**=उत्तम पोषणवाला करता है। प्रभुकृपा से प्राप्त यह सात्त्विक अन्न उसे जितेन्द्रिय बनने में तो सहायक होता ही है, वह अन्न उसे **पूषा**=पुष्टि का भी देवता बनाता है, अर्थात् इसके अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़ करनेवाला होता है। ५. यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रस्तुत मन्त्र 'शुद्ध धन' से प्रारम्भ होता है और 'शुद्ध अन्न' पर समाप्त होता है।

भावार्थ—(क) हम धन से अपने को आच्छादित करें, अर्थात् खूब कमाएँ, परन्तु शुद्ध साधनों से। (ख) इस धन का मुख्य उपयोग दान हो—दान देकर बचे हुए को ही खाने का विचार करें। (ग) प्रभु को हृदयस्थ कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें। (घ) उसी अन्न का सेवन करें जो संयम व पोषण की दृष्टि से ठीक हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

एष छागः=यह-शत्रु छेदक

एष छागः पुरोऽअश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳसौश्रवसाय जिन्वति॥२६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शुद्ध धन, शुद्ध अन्न' का सेवन करनेवाले के लिए कहते हैं कि **एषः छागः**=यह (छो छेदने) शत्रुओं का छेदन करनेवाला, **पूष्णो भागः**=पोषक अन्न का ही सेवन करनेवाला, (भज् सेवायाम्) **विश्वदेव्यः**=अपने में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाला मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (प्रशस्त इन्द्रियोंवाला) **अश्वेन**=(अश् व्याप्तौ) सर्वत्र व्याप्त **वाजिना**=सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु से **पुरः नीयते**=आगे उन्नति-पथ पर ले-जाया जाता

है। २. **अर्वता**=(अर्व हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु से **यत्**=जब **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति को देनेवाले **पुरोडाशम्**=हुतशेष (Leavings of an oblation) की **अभि**=ओर (नीयते) ले-जाया जाता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करने के लिए ही प्रेरित किया जाता है तब **त्वष्टा**=यह देवशिल्पी अथवा (त्विष् दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाला प्रभु **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इस हुतशेष (यज्ञशेष) का सेवन करनेवाले को **सौश्रवसाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके उसे प्रसन्नता का लाभ कराता है। वस्तुतः यज्ञशेष का सेवन चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। शुद्ध चित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम काम-क्रोधादि का छेदन करें, पोषक अन्न का सेवन करें, दिव्य गुणों की प्राप्ति हमारा लक्ष्य हो। ऐसा होने पर प्रभु हमारी उन्नति का कारण बनेंगे। हम यज्ञशेष का ही सेवन करेंगे तो ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान से प्रसादयुक्त करेंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सहयज्ञ प्रजाओं का सर्जन

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भागऽएति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥२७॥

१. **यत्**=जब **हविष्यम्**=(हविषि उत्तमम्) जीव दानपूर्वक अदन में उत्तम होता है, अर्थात् दान देकर यज्ञशेष खाने की वृत्ति होती है तब २. **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु के अनुसार **देवयानम्**=देवताओं के मार्ग से चलता है, अर्थात् ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए सत्य को अपनाता है तथा ३. **मानुषाः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति) विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले **अश्वम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को (अश् व्याप्तौ) **त्रिः**=प्रातः, मध्याह्न व सायं समय **परिनयन्ति**=अपने विचारों में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान करते हैं। ४. **अत्र**=ऐसा होने पर **पूष्णः**=पूषा का **प्रथमो भागः**=सर्वोत्तम भाग **एति**=इन्हें प्राप्त होता है, अर्थात् इनको उत्तम पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं। इनका शरीर उत्तम पुष्टिवाला होता है और ५. **अजः**=कभी भी जन्म न लेनेवाला वह प्रभु अथवा सब प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **देवेभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञम् प्रतिवेदयन्**=यज्ञों को प्राप्त कराता है। यह यज्ञ उनके लिए सब इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हवि के प्रयोग में उत्तम हों, देवयान मार्ग से चलें। सदा प्रभु का स्मरण करें, शरीर को सुपुष्ट करें, प्रभु से दिये गये यज्ञ को अपनाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सप्तहोता यज्ञ

होताध्वर्युरावयाऽअग्निमिन्धो ग्रावग्राभऽउत शꣳस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥२८॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु ने यज्ञ को प्राप्त कराया' ऐसा कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि हे दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **तेन**=उस **स्वरङ्कृतेन**=साधु अलंकृत, अर्थात् बड़ी उत्तमता से तथा **स्विष्टेन**=उत्तम भावना से किये गये **यज्ञेन**=यज्ञ से तुम **वक्षणाः**=अपनी सब प्रकार की उन्नतियों को अथवा आशा-नदियों को **आपृणध्वम्**=पूर्ण करनेवाले बनो, अर्थात् इस यज्ञरूप उत्तम कर्म को जब तुम उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करोगे तो तुम्हारी सब

इच्छाएँ पूर्ण हो पाएँगी—तुम्हारी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकेगी। २. 'तुम कैसे बनो' इस विषय में भी प्रभु सात नामों का उच्चारण करते हुए सात बातें कहते हैं: (क) **होता**=तुम दानपूर्वक अदनवाले बनो, सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होओ। (ख) **अध्वर्युः**=अहिंसात्मक कार्यों को अपने साथ जोड़नेवाले होओ, कभी हिंसा में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। (ग) **अवयाः**=(कण अवयजने) तुम दुर्गुणों को अपने से सर्वथा दूर करनेवाले बनो। (घ) **अग्निमिन्धः**=ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर दीप्त करने के लिए प्रयत्नशील होओ। (ङ) **ग्रावग्राभः**=प्रभु-स्तवन का ग्रहण करनेवाले बनो, (च) **शस्ता**=उत्तम कार्यों का शंसन करनेवाले होवो **उत**=और (छ) **सुविप्रः**=शोभन मेधावी बनो। प्रयत्न करो कि तुम्हारा ज्ञान अधिक-से-अधिक हो। इस प्रकार इन सात बातों को अपने जीवन में अनूदित करके तुम जीवनरूप सप्तहोताओंवाले यज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाले बनो।

भावार्थ—जीवन को सप्तहोताओं से चलनेवाला यज्ञ बनाओ। यज्ञ को उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करते हुए तुम अपनी सब उन्नतियों को सिद्ध करो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यूपव्रश्चन

यूपव्रस्काऽउत ये यूपवाहाश्चषालं येऽअश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनꣳसम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥ २९॥

१. गतमन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख है। उस 'जीवन-यज्ञ' की यज्ञशाला यह शरीर है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस यज्ञशाला के यूप हैं। इन यूपों-यज्ञस्तम्भों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **यूपव्रस्काः**=(यूपं वृश्चन्ति) जो इस अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों का वृश्चन द्वारा ठीक निर्माण करनेवाले बढ़ई हैं। इस यज्ञस्तम्भों पर चढ़ी हुई चर्बीरूप मैल की तहों को छील-छालके जो इन स्तम्भों को ठीक-ठाक बना देते हैं, **उत**=और **ये**=जो **यूपवाहाः**=इन यज्ञस्तम्भों का वहन करनेवाले हैं, अर्थात् इन अङ्गरूप स्तम्भों को कार्यों में प्रयुक्त करनेवाले हैं, **ये**=जो **अश्वयूपाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव के इन यज्ञस्तम्भों के लिए **चषालम्**=(यूपाग्रामाग्रेस्थाप्यं काष्ठं) अङ्गरूपस्तम्भों के अग्रभाग में स्थाप्य मस्तिष्करूप चषाल को भी (तक्ष तनूकरणे) खूब सूक्ष्म व तीव्र बनाते हैं। २. **ये च**=और जो **अर्वते**=(हिंसायाम्) काम-क्रोधादि पशुओं की हिंसा करनेवाले के लिए—इसलिए कि वह कामादि का हिंसक बन सके **पचनं सम्भरन्ति**=पचन को, बुद्धि के परिपाक को सम्यक् प्राप्त कराते हैं, **ते**=इन लोगों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **नः इन्वतु**=हमें भी प्रीणित करनेवाला हो, अर्थात् हम भी बड़ी रुचि से ज्ञान का परिपाक करने में लगे रहें। ३. इस प्रकार मन्त्र में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शरीररूप यज्ञशाला का स्तम्भ समझें। इन अङ्गों को चर्बी की तहों से बेडौल न होने दें। उचित व्यायाम व आसनों से उस चर्बी का तक्षण करते रहें। (ख) इन अङ्गों को सदा क्रियाशील बनाये रक्खें। अङ्ग शब्द का तो धात्वीय अर्थ ही 'गतिशील' है। अङ्गरूप साम्य शरीररूप यज्ञशाला का वहन करनेवाला हो। (ग) इन यूपों के अग्रभाग में स्थाप्य काष्ठ-चषाल यह मस्तिष्क है, इसका सुन्दर तक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जितनी बुद्धि सूक्ष्म होगी उतना ही यह तत्त्वदर्शन ठीक कर सकेगी (चषालं तक्षति) (घ) इस यज्ञशाला में कामादि पशुओं का बन्धन हो सके उसके लिए आवश्यक है कि ज्ञान का उत्तम परिपाक हो। ज्ञान के परिपाक के न होने पर मनुष्य **अर्वाः**=कामादि का संहार करनेवाला नहीं बन सकता।

(अर्वते पचनं सम्भरन्ति)।

भावार्थ—१. हम अङ्गरूप स्तम्भों का ठीक वृश्चन कर उन्हें सुन्दर, सुडौल बनाएँ। २. इन अङ्गरूप स्तम्भों को संभृत किये रखने के स्थान में इन्हें कार्य-विनियुक्त करें। ३. मस्तिष्क को तीव्र बनाएँ। ४. ज्ञान का परिपूर्ण पाक करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उप प्रागात्

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशाऽउप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्राऽऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥३०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम (क) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुडौल बनाते हैं (ख) मस्तिष्क का सुन्दर तक्षण करते हैं तथा (ग) ज्ञान का परिपाक करते हैं और इस कार्य में रुकते नहीं तो **उपप्रागात्**=वह प्रभु हमारे समीप आते हैं। हम पर्वत की ओर चलते जाते हैं तो पर्वत हमारे समीप हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ साधना करने से प्रभु हमारे समीप हो जाते हैं। समीप क्या? प्रभु का मेरे अन्दर निवास होता है। २. इस प्रभु के निवास से **सुमत्**=स्वयं ही (सुमत्=स्वयं-नि०) **मे**=मुझमें **मन्म**=(मननम्) ज्ञान **अधायि**=निहित होता है। प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं। प्रभु का मुझमें निवास हुआ तो मेरे अन्दर ही ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। ३. उस समय मेरी **आशाः**=आशा व इच्छा भी **देवानाम्**=देवों की हो जाती है। देवों की कामनाएँ अध्यात्मता का पुट लिये होती हैं। ४. **उप**=उस प्रभु के समीप रहकर मैं **वीतपृष्ठः**=कान्तपृष्ठवाला बनता हूँ। मेरी पीठ पाप के बोझों से नहीं लद जाती। मेरी पीठ पर पाप का कलंक नहीं होता। ५. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग तथा **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **एनम्**=इस समीप प्राप्त प्रभु के **अनुमदन्ति**=आनन्द से आनन्दित होते है, अर्थात् प्रभु को प्राप्त करके वे उस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं, जो अनुपम है। ६. **देवानाम् पुष्टे**=दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम उस प्रभु को **सुबन्धुम्**=उत्तम बन्धु **चकृम**=करते हैं। प्रभु के साथ बना हुआ हमारा बन्धुत्व हममें दिव्य गुणों के निरन्तर विकास का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं तो हमारे अन्तःज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। हम एक अनुपम आनन्द अनुभव करते हैं, प्रभु का यह उपासन हमारी दैवी प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बन्धन व दिव्यता

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳसर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३१॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम प्रभु को अपना सुबन्धु बनाते हैं'। 'उन्हीं दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए क्या-क्या करना' इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **यत्**=जो **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष का **दाम**=ग्रीवा का बन्धनभूत रज्जु है, अर्थात् ग्रीवा का बन्धन है, कण्ठ को संयत करना है—इस प्रकार कण्ठ का संयम हो कि कोई भी अशिष्ट व अनावश्यक शब्द मुख से न निकले। २. जो **अर्वतः**=सब बुराइयों को संहार करनेवाले का **सन्दानम्**=पाद-बन्धन है। 'पाँव' गति के साधन हैं। पादबन्धन का अभिप्राय पाँव को संयत करना, चाल को नपा-तुला बनाना

है। यह बुराइयों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति व्यर्थ की चेष्टाओं को नहीं होने देता। इसकी चाल-ढाल संयत होती है। ३. **या**=जो **अस्य**=इस शक्तिशाली व बुराइयों के संहार करनेवाले की **शीर्षण्या रज्जुः**=सिर-स्थानीय रज्जु है। सिर की बन्धनभूत रज्जु का अभिप्राय ज्ञानेन्द्रियों के संयम से है। इसकी कोई भी ज्ञानेन्द्रिय अवाच्छनीय व्यवहार नहीं करती, यह अपने मस्तिष्क में कोई अवाच्छनीय विचार नहीं आने देता। ४. अथवा **अस्य**= इसकी जो **रशना**=कटिप्रदेश की रज्जु है। यह रज्जु उदर के संयम का संकेत कर रही है। उदर के संयम के साथ ही वह उपस्थ के संयम का भी द्योतक है। ५. इन सब 'ग्रीवा, पाद, सिर व कटि' के बन्धनों के साथ यह जो **वा घ**=निश्चय से **अस्य आस्ये**= इसके मुख में **तृणम्**=तृण अर्थात् वानस्पतिक भोजन ही **प्रभृतम्**=डाला गया है। यह कभी भी मांस भोजन को नहीं अपनाता। ६. इस प्रकार इन बातों का उल्लेख करके कहते हैं कि **ते**=तेरी **सर्वा ता**=सब बातें **देवेषु अस्तु**=(सन्तु म०) देवोपयोगी हों, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली हों। तेरा जीवन इन बातों के कारण अधिकाधिक दिव्य बनता जाए।

भावार्थ—इस मन्त्र में दिव्य गुणों के लिए पाँच बातें कही गई हैं १. शक्तिशाली बनकर ग्रीवा को संयत रखना, कोई अवाच्छनीय शब्द न बोलना, बोलचाल का नपा-तुला होना। २. बुराई के संहार के उद्देश्य से पाँव को बन्धन में रखना। चाल-ढाल को संयत रखना, व्यर्थ क्रिया नहीं करना। ३. शिरः बन्धन को अपनाना, सब ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं व विचारों का संयम करना। ४. कटिबन्धन, अर्थात् उदर व उपस्थ को संयत करने का प्रयत्न। ५. उन्हीं भोजनों को करना जिनका प्रतीक तृण है, मांस-भोजन से बचना।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्म में लगे रहना

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३२॥

१. **यत्**=जो **अश्वस्य**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले का तथा **क्रविषः**=(कृवि हिंसा-करणयोश्च) निरन्तर क्रिया के द्वारा बुराई का संहार करनेवाले का **मक्षिका**=(मक्षति= accumulate, to collect) जीविकार्थ धनोपार्जन **आश**=समय को खा लेता है, इसका बहुत-सा समय धनोपार्जन में ही व्यतीत हो जाता है। **यद्वा**=और जो **स्वरौ**=(स्वृ शब्दे) शब्दरूप वाङ्मय, अर्थात् ज्ञान में **रिप्तम्**=(लिप्तं) इसे लगाव है तथा **स्वधितौ**=सबके आत्मतत्त्व के धारण में इसे लगाव है। २. **यत्**=जो **हस्तयोः**=(कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ) हाथों में इसे लगाव है, अर्थात् हाथों से कोई-न-कोई कार्य करता ही रहता है, अपने मुख्य कार्य के बाद आमोद-प्रमोद के रूप में किसी-न-किसी व्यासंग (Hobby) को अपनाये रखता है और इस प्रकार पूर्णतः सब दोषों को शान्त करनेवाले इस व्यक्ति का **यत्**=जो **न**=नहीं **खेषु**=छिद्रों में, दोषों में लगाव है, अर्थात् यह जो सब व्यसनों से ऊपर उठा रहना है, ३. **ते**=तेरी **सर्वा ता**=ये सब बातें **अपि**=भी **देवेष्वस्तु**=(सन्तु) देवोपयोगी हों, दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनें।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए निम्न बातें कही गई हैं—१. सद्गृहस्थ सर्वप्रथम तो गृहस्थ के सञ्चालन के लिए धनोपार्जन के कार्य में लगे। धनोपार्जन मक्षिक के रसग्रहण की भाँति करना है। लाटरी से एक ही रात में धनी बनने का स्वप्न नहीं लेना। २. धनोपार्जन से वाङ्मय की उपासना करनी है। ३. मस्तिष्क के

थकने पर आत्मचिन्तन द्वारा हृदय में आत्मतत्त्व के स्थापन का प्रयत्न करना है ४. आमोद-प्रामोद के लिए हाथ के किसी व्यासंग को अपनाना है। ५. शान्त स्वभाववाला बनकर प्रयत्न करना है कि व्यसनों की ओर झुकाव न हो जाए (न+ख)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मेध का शृतपाकपचन

यदूवध्यमुदरस्यापवाति यऽआमस्य क्रविषो गन्धोऽअस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधꣳशृतपाकं पचन्तु॥३३॥

१. गत दो मन्त्रों में दिव्य गुणों के विकास का उल्लेख हुआ है। उसके लिए स्वास्थ्य के ठीक होने का महत्त्व सुव्यक्त है। स्वास्थ्य का निर्भर तृण भोजन पर है। मानस स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता की आवश्यकता है और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता के साथ परिपाक के ठीक से होने की भी आवश्यकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **यत्**=जो **ऊवध्यम्**=(भक्षितमपक्वमामाशयस्थम्।—म०) खाया हुआ अन्न ठीक से पचता नहीं वह **उदरस्य अपवाति**=पेट में दुर्गन्ध का कारण बनता है (गन्धयते—उ०) या वमन आदि द्वारा निकल जाता है (अपगच्छति—म०) इस प्रकार वातिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ३. भोजन में **यः**=जो **आमस्य**=कच्चेपन का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है और परिणामतः इसके पूर्ण परिपाक न होने से कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं ४. अथवा भोजन में जो **क्रविषः**=(कृवि हिंसायाम्) पैत्तिक विकार के द्वारा हिंसा करने के दोष का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है ४. **तत्**=उस दोष को **शमितारः**=सब दोषों को दूर करके शक्ति देनेवाले **सुकृता**=सुसंस्कृत **कृण्वन्तु**=कर दें, अर्थात् उस दोष को पूर्ण तथा दूर कर दें। **उत**=और **मेधम्**=पवित्र सात्त्विक वस्तु को **शृतपाकम् पचन्तु**=ठीक परिपाक-वाला बनाएँ। उसे अतिपक्व व ईषत् पक्व न कर दें। ईषत् पक्व कफविकारों का कारण बनता है और अतिपक्व पित्तविकारों का कारण बनता है। पेट में जाकर ठीक पाचन न होने पर वातिक विकार कष्ट देते हैं, अतः भोजन सात्त्विक भी होना चाहिए और उसका उचित पाक भी आवश्यक है। यह उचित पाक ही यहाँ 'शृतपाक' कहा गया है।

भावार्थ—हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें और उन सात्त्विक पदार्थों का सदा उचित परिपाक करके ही सेवन करें। फलों का भी कच्चे व गलेरूप में कभी सेवन न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों के लिए

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम सात्त्विक भोजन का 'शृतपाक पचन'—उचित पचन=करके सेवन करते हैं तब आमाशय में पहुँचकर 'वैश्वानर अग्नि' से उसका परिपाक होता है, उससे रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य की उत्पत्ति होती है। प्रभु से शरीर में यह वीर्य इसलिए स्थापित किया गया है कि यह सब रोगों को कम्पित करके दूर किये रक्खे, परन्तु मनुष्य अज्ञानवश इस वीर्य के महत्त्व को ठीक से नहीं आँकता और उसको अधिक सन्तानोत्पत्ति में व व्यर्थ के भोगविलास में व्यय कर देता है। चाहिए यह कि हम इसकी रक्षा करें, सुरक्षित होकर यह हममें दिव्य गुणों के विकास का कारण बनेगा, अतः मन्त्र में कहते हैं

कि १. **अग्निना पच्यमानात्**=शरीर के अन्दर वैश्वानर अग्नि से पकाये जाते हुए भोजन से उत्पन्न रुधिरादि धातुओं से **शूलं अभि**=रोगों का लक्ष्य करके, अर्थात् रोगों को दूर करने के उद्देश्य से **निहतस्य**=(हन्=गति) निश्चय से प्राप्त कराये गये इस वीर्य का **यत्**=जो अंश **ते गात्रात्**=तेरे शरीर से **अवधावति**=दूर जाता है **तत्** =वह **भूम्याम्**=बीज के वपन की आधारभूत स्त्री में **मा**=मत **आश्रिषत्**=आलिंगन करे **तृणेषु**=तृणतुल्य तुच्छ विषयभोगों में तो वह न ही व्ययित हो, अर्थात् एक या अधिक-से-अधिक तीन सन्तानों के बाद वह सन्तानोत्पत्ति में भी व्ययित न हो—भोगविलास में उसके व्यय का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उससे बढ़कर मूर्खता क्या हो सकती है? २. **तत्**=वह अधिक सन्तान व भोगविलास में न व्ययित हुआ-हुआ वीर्य **उशद्भ्यः**=(Shine) चमकते हुए **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **रातम्**=दिया हुआ **अस्तु**=हो। इस वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि इसे हम शरीर में सुरक्षित रक्खें। यह सुरक्षित वीर्य जहाँ शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा (शूल) को न होने देगा वहाँ यह हमारे मनों में दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनेगा। इस वीर्य के कारण हमारा यह पृथिवीरूप शरीर दृढ़ बनेगा, मस्तिष्क में ज्ञानज्योति जगेगी तथा हमारे मानस में दीप्त दिव्य गुणों का निवास होगा।

भावार्थ—भोजन के परिपाक से उत्पन्न वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि हम उसे शरीर में सुरक्षित रक्खें, जिससे शरीर में रोग उत्पन्न न हों और हमारे मनों में दिव्य गुणों का विकास हो, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आचार्य-कर्त्तव्य

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥ ३५॥

१. गतमन्त्र में वीर्यरक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन है। आचार्य गुरुकुलों में विद्यार्थी के वातावरण को सुन्दर बनाकर उसे वीर्यरक्षा के योग्य बनाते हैं। इसी वीर्यरक्षण के द्वारा वे उसके शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को परिपक्व ज्ञानवाला बनाते हैं। इसी के द्वारा वे उसके जीवन को दिव्य गुणों की सुगन्धि से परिपूर्ण करते हैं और उसके बाद उसे यही आदेश देते हैं कि तू इस ज्ञान को निश्चय से दूर-दूर तक फैलानेवाला बन। आचार्य कहते हैं कि काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले तुझसे हम तेरे जीवन की ही भिक्षा माँगते हैं 'तू अपने मांस को इस लोक के कल्याण के लिए दे डाल'। मन्त्र में कहते हैं कि २. **ये**=जो आचार्य विद्यार्थी को **वाजिनम्**=शक्तिशाली व सुदृढ़ शरीरवाला तथा **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञानवाला, परिपक्व बुद्धिवाला **परिपश्यन्ति**=देखते हैं तथा ३. **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **आहुः**=कहते हैं कि तू **सुरभिः**=(क) स्वास्थ्य के कारण चमकते हुए (Shining, Handsome) सुन्दर शरीरवाला है (ख) दीप्त ज्ञानाग्नि के कारण उत्तम बुद्धिमान् (Wise, Learned) हुआ है (ग) मन में उत्तम गुणोंवाला (Good, Virtuous) बना है। ऐसा तू **निर्हरः इति**='निश्चय से ज्ञान को दूर-दूर तक ले-जानेवाला बन' हम तो बस यही चाहते हैं। ४. **ये च**=और जो आचार्य **चार्वतः**=काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला विद्यार्थी से **मांसभिक्षाम्**=उसके मांस (जीवन) की भिक्षा **उपासते**=माँग लेते हैं, अर्थात् जो उसे यह कहते हैं कि तू लोकहित के लिए अपना जीवन दे डाल, **तेषाम्**=उन, अपने लिए कुछ भी न चाहनेवाले आचार्यों का **अभिगूर्तिः**=उद्योग **उत**=निश्यच से **नः इन्वतु**=हमें प्राप्त करे,

अर्थात् हम भी इन्हीं आचार्यों में से एक बनें और विद्यार्थी को सुन्दर जीवनवाला व परिपक्व ज्ञानवाला बनाकर उससे लोकहित करने की गुरुदक्षिणा लें।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि (क) विद्यार्थी को दृढ़ शरीरवाला बनाये (वाजिनम्) (ख) उसके ज्ञान को परिपक्व करे (पक्वम्), (ग) उसको सुरभि बनाये—सुन्दर शरीरवाला, बुद्धिमान् व दिव्य गुणसम्पन्न करे। (घ) उसे इस ज्ञान को दूर-दूर तक फैलाने का निर्देश करे (निर्हरः इति), (ङ) लोकहित के लिए जीवन को खपा देने की प्रेरणा करे इसी को अपनी गुरुदक्षिणा समझे (मांसभिक्षामुपासते)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मांस्पचनी उखा

यन्नीक्षणं माँस्पचन्याऽउखाया या पात्राणि यूष्णऽआसेचनानि।
ऊष्मण्यापिधानाँ चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्॥३६॥

१. इस शरीर को प्रस्तुत मन्त्र में 'मांस्पचनी उखा' यह नाम दिया गया है। उखा देगची को कहते हैं, जिसमें व्यञ्जनों का परिपाक होता है। इस शरीर में भी खाये हुए आहार का वैश्वानर अग्नि के द्वारा परिपाक होता है और उस परिपाक में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा व वीर्य' इन धातुओं का निर्माण होता है। यहाँ 'मांस' बाकी सब धातुओं का उपलक्षण है। **मांस्पचन्याः उखायाः**=मांसादि धातुओं का जिसमें निरन्तर पाक द्वारा निर्माण हो रहा है, इस देगची का **यत्**=जो यह **नीक्षणम्**=(नितराम् ईक्षणम्) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरन्तर उस-उस विषय का दर्शन है, यह **अश्वम्**=निरन्तर इन क्रियाओं में व्याप्त जीव को **परिभू**=अलंकृत करता है। कभी इन ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया का विचार करें तो उसमें अद्भुत सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। किस प्रकार ये दो आँखें एक ही वस्तु का ग्रहण करती हैं, दो कान एक ही शब्द सुनते हैं? यह सब सोचने पर बड़ा अद्भुत लगता है। २. इससे भी अद्भुत शरीर में ग्रन्थियों (Glands) का कार्य है। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'पात्र' कहा है। ये सचमुच शरीर का 'पा-रक्षणे' रक्षण करनेवाली हैं। **यः**=जो **पात्राणि**=ग्रन्थियाँ **यूष्णः**=रस का **आसेचनानि**=शरीर में सर्वत्र सेचन करनेवाली हैं। इन ग्रन्थियों से विविध रस निकलकर शरीर में रक्षात्मक कार्यों को कर रहे हैं। इस प्रकार ये रसों के आसिचन **अश्वम्**=इस क्रिया में व्याप्त पुरुष को **परिभूषयन्ति**=अलंकृत कर रहे हैं। ३. यह त्वचा भी एक अद्भुत वस्तु है। यह **अपिधानः**=सारे शरीर को ढकनेवाली तो है ही और इस प्रकार **ऊष्मण्याः**=(ऊष्मशब्दस्य धारणार्थे—उ० ऊष्माणं धारयन्ति—म०) शरीर में यह गर्मी का धारण करनेवाली है। देगची पर ढक्कन भी यही कार्य करता है कि 'अन्दर की गर्मी को अन्दर ही रखता है और नष्ट नहीं होने देता। इसी प्रकार यह त्वचा इस 'मांस्पचनी उखा' का ढक्कन है। इस ढक्कन की यह विशेषता है कि यह अन्दर की अधिक गर्मी को पसीने आदि के रूप में बाहर कर देता है और उसी पसीने आदि के वाष्पीयन में ही बाहर की गर्मी व्ययित हो जाती है, शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाती। एवं, यह त्वचा एक अद्भुत अपिधान है जो इस शरीर में प्रविष्ट जीवात्मा को (अश्वं) **परिभूषति**=अलंकृत करता है। ४. इस शरीर में इन्द्रियाँ घोड़ों से उपमित होती हैं और उस समय जिन विषयों का ये ग्रहण करती हैं वे 'चरु' कहलाते हैं। **'विषयाँस्तेषु गोचारान्'**। इन्द्रियाँ जो इनका ग्रहण करती हैं, तो जो संस्कार अन्दर मानस पटल पर या मस्तिष्क में पड़ते हैं वे वहाँ **'अङ्कः'**=चिह्न कहलाते हैं। इंग्लिश में ये ही Impressions

हैं। इन अङ्गों के बाद ही प्रेरणाओं का समय आता है। ये प्रेरणाएँ ही **सूनाः**='षू प्रेरणे' कही गई हैं। वस्तुतः ये **चरूणाम्**=विषयों के **अंकाः**=आगम व **सूनाः**=प्रयोग–प्रेरण भी अद्भुत हैं। ये इस अश्व को अलंकृत कर रहे हैं।

भावार्थ–यह शरीर परिपाक द्वारा मांसादि धातुओं का निर्माण करनेवाली उखा (देगची) है। इसमें १. ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया २. ग्रन्थियों से रसों का आसेचन ३. गर्मी को सुरक्षित करनेवाली ढक्कन के समान यह त्वचा ४. विषयों का ग्रहण व प्रवचन–ये सब बातें बड़ी ही अद्भुत हैं। ये इस उखा में रहकर कार्यव्याप्त जीव के मानो भूषण हैं।

ऋषिः–**गोतमः**। देवता–**विद्वांसः**। छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**।

'काम' से ऊपर

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥३७॥

१. **त्वा**=तुझे **धूमगन्धिः**=अज्ञान की गन्धवाली अथवा 'धूञ् कम्पने' कम्पन की कारणभूत **अग्निः**=कामाग्नि **मा**=मत **ध्वनयीत्**=रणरणक को देनेवाली हो, शब्दयुक्त न करे। यह कामाग्नि संयोग में शृंगार-प्रधान शब्दों का उच्चारण कराती है और वियोग में प्रलम्भ शृंगार के विरह-ताप के सूचक शब्दों का। कामसन्तप्त कुछ गाता है, चाहे कितना ही असम्बद्ध-सा हो। इस काम में ज्ञानाग्नि बुझ-सी जाती है, धूआँ हो जाता है, अतः इसे 'धूमगन्धि' कहा है। जीवों में इस काम में ज्ञानाग्नि के इस प्रकार आवृत होने का उल्लेख है जैसे 'धूमेनाव्रियते वह्निः' धूम से अग्नि आवृत होती है। २. इस कामाग्नि के दीप्त होने पर यह गत मन्त्र में वर्णित **उखा**=मांसादि धातुओं का परिपाक करनेवाली शरीररूप उखा, जो अभी तक स्वास्थ्य की दीप्ति से **भ्राजन्ति**=चमकती थी **जघ्रिः**=(ग्रह उपादाने) जो सब उत्तम शक्तियों का ग्रहण किये हुए थी, वह **अभिविक्त**=(भयचलनयोः) वह कम्पित हो उठती है। वेद कहता है कि ये तेरी सुन्दर गात्रयष्टि **न अभिविक्त**=मत काँप उठे। न तू कामाग्नि का शिकार हो और न ही तेरी यह गात्रयष्टि काँप उठे। ३. इसके लिए तूने यह ध्यान करना है कि **इष्टम्**=(इष्टं अस्य अस्ति इति, तं) यज्ञादि करनेवाले को, वीतं (वी गतिर्जनन०) गति के द्वारा सब शक्तियों का विकास करनेवाले को, **अभिगूर्त्तम्**=सदा उत्तम कर्मों में उद्योगशील को, **वषट्कृतम्**=नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले को, **तं अश्वम्**=उस सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष को **देवासः**=दिव्य गुण **प्रतिगृभ्णन्ति**=स्वीकार करते हैं, अर्थात् इस प्रकार इष्टादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ आलस्यशून्य व्यक्ति कभी कामाग्नि का शिकार नहीं होता। यह अपनी ज्ञानाग्नि को सदा दीप्त रख पाता है। इसकी यह शरीररूप उखा तेजस्विता से चमकती रहती है।

भावार्थ–कामाग्नि का शिकार न होने पर ज्ञान दीप्त रहता है, शरीर तेजस्वी बना रहता है। कामाग्नि से बचने का उपाय यही है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः–**गोतमः**। देवता–**यज्ञः**। छन्दः–**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**।

घास-भोजन (अमांस भोजन)

निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के विषय को ही प्रस्तुत करते हुए कहते हैं **ते**=तेरी **ता सर्वा**=वे सब बातें **अपि**=भी **देवेषु**=देवोपयोगी **अस्तु**=हों, अर्थात् निम्न बातें तुझमें दिव्य गुणों के विकास के लिए सहायक हों। क्या-क्या बातें?—२. **निक्रमणम्**=घर से बाहर आना-जाना। (निष्क्रमणस्थानम्—उ०) घर से बाहर तू आवश्यक कार्यों के लिए आने-जानेवाला हो। तू व्यर्थ में न घूमता फिरे। ४. **निषदनम्**=तेरा उठना-बैठना देवोपयोगी हो। हीनपुरुषों के साथ उठना-बैठना होने पर तू अपनी हीनता को ही सिद्ध कर लेगा। बुरों के साथ संग स्वयं एक बड़ा पाप है, क्योंकि यह मनुष्य को उस-उस पाप में फँसाने का कारण हो जाता है। ५. **विवर्त्तनम्**=तेरी विविध चेष्टाएँ भी देवोपयोगी हों। हमारी छोटी-छोटी चेष्टाएँ हमारे स्वभाव-निर्माण में भाग लेती हैं। हँसी व प्यार में बोला हुआ अपशब्द भी हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। ५. **अर्वतः**=बुराई का संहार करनेवाले **यच्च**=और जो (क) **पड्वीशम्**=(पादबन्धन) तेरा गति का नियमन है, संयत गति है, यह तेरे दैवी स्वभाव का निर्माण करनेवाली हो। (ख) 'पड्वीशं' शब्द का अर्थ उव्वट ने 'पादेषु विशति' इन शब्दों में किया है, पाँवों में स्थित होता है, अर्थात् नम्र बना रहता है। वस्तुतः यह नम्रता सब दिव्य गुणों की जननी है। ६. इन बातों के अतिरिक्त **यच्च पपौ**=जो जल पीता है और **घासिम्**=घास को, अर्थात् वानस्पतिक भोजन को **जघास**=खाता है। ये तेरा सादा खाना-पीना तेरे उच्च जीवन का कारण बने। मांसभोजन मनुष्य को कभी उच्चता की ओर नहीं ले-जाता। इससे कुछ-न-कुछ क्रूरता व स्वार्थ की वृत्ति को बढ़ावा मिलता है। अन्य साधनों की उपस्थिति में यदि एक मांसाहारी ऊँचे जीवन का प्रतीक होता है तो मांसाहार को छोड़ने पर वह और ऊँचा उठ जाएगा। मांस-भोजन देवों का नहीं, असुरों का है।

भावार्थ—हमारा घर से बाहर आना-जाना, उठना-बैठना, हमारी विविध चेष्टाएँ, गति का नियमन व नम्रता तथा सादा खान-पान—इन सबसे हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

दैवी सम्पत्ति के साधन

यदश्वाय॒ वास॑ऽउपस्तृ॒णन्त्यधीवा॒सं या हिर॑ण्यान्यस्मै।
स॒न्दान॒मर्व॑न्तं पड्वी॑शं प्रि॒या दे॒वेष्वा या॑मयन्ति॥३९॥

१. जो **प्रिया**=प्रिय वस्तुएँ तुझे **देवेषु**=दिव्य गुणों में **आयामयन्ति**=(आगमयन्ति) प्राप्त कराती हैं, अर्थात् इन बातों के कारण तेरे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। २. कौन-सी प्रिय वस्तुएँ?—(क) **यत्**=जो **अश्वाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **वासः**=प्रकृति-विज्ञान की गन्ध को **उपस्तृणन्ति**=आच्छादित करती हैं, फैलाती हैं (to spread, to expand), (ख) इस प्रकृति-विज्ञान की गन्ध के साथ **अधीवासम्**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म-विद्या की गन्ध को भी इसके लिए प्राप्त कराती हैं। प्रकृति-विज्ञान को 'वास' कहा गया है तो ब्रह्मविज्ञान को 'अधीवास' नाम दिया गया है। प्रकृति विज्ञान की गन्ध जीवन को सुन्दरता से बिताने के लिए आवश्यक है तो आत्मज्ञान की उत्कृष्ट गन्ध (अधीवास) संसार के प्रलोभनों में न उलझने के लिए आवश्यक है। (ग) **या**=जो **अस्मै**=कर्मठ विद्यार्थी के लिए **हिरण्यानि**='हितरमणीयानि' हितरमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' आदि दिव्य गुणों को जो ज्ञान के ही परिणाम हैं, इसके हृदय में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। 'वास व अधीवास' ने मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाया था तो ये हिरण्य उसके हृदय को रमणीय बनाते हैं। (घ)

अर्वन्तम्=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **सन्दानम्**=उदर व कटि के बन्धन को इसे प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः भोजन का संयम व ब्रह्मचर्य का नियम हो जाने पर जीवन में बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं, इसीलिए 'संदानं' का यहाँ 'अर्वन्तं' ऐसा विशेषण दिया है। (ङ) **पड्वीशम्**=सन्दान के साथ इसे वे पादबन्धन भी प्राप्त कराते हैं, अर्थात् (पद् गतौ) इसकी गति व चाल-ढाल को बड़ा नियमित करते हैं। इस चाल-ढाल को नियमित करना ही 'अनुशासन 'discipline' में रखना कहलाता है। ये सब बातें इस विद्यार्थी में दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ३. मन्त्रार्थ में 'अश्व' शब्द यह सुस्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि आचार्य अकर्मण्य व आलसी विद्यार्थी का निर्माण नहीं कर सकते। विद्यार्थी में दिव्य गुणों के विकास के लिए उसे प्रकृति-विज्ञान व आत्मज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक है। अज्ञान को दूर किये बिना किसी भी प्रकार का निर्माण सम्भव नहीं होता। विद्यार्थी के हृदय में हितरमणीय बातों के प्रति रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। उसको **संदान**=उदरबन्धन—भोजन के संयम का महत्त्व समझाना आवश्यक है। इसी के साथ चाल-ढाल का मपा-तुला होना भी जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—आचार्य कर्मठ विद्यार्थी को 'प्रकृति-विज्ञान, आत्मज्ञान, हितरमणीय बातों के प्रति रुचि, भोजन का संयम व गति का नियमन' इन बातों को प्राप्त कराके दैवी सम्पत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सामृत पाणि से दिया गया 'दण्ड'

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पाष्ण्र्या वा कशया वा तुतोद।
स्रुचेव ता हविषोऽअध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से अनुशिष्ट होकर इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। आचार्य ने अपनी **महसा**=तेजस्विता से विद्यार्थी को यथासम्भव शीघ्र ही शिक्षित करने का प्रयत्न किया है (शूकृतस्य शीघ्रं शिक्षितस्य—द०) इस कार्य में उसे कभी-कभी विद्यार्थी को दण्ड भी देना पड़ता है। यह दण्ड हाथ-पाँव के प्रहार से भी हो सकता है (पाष्ण्र्या=Neel एड़ी से भी) या वाणी के द्वारा झिड़कने से भी (कशया—'कश शासने')। आचार्य कहता है कि इन दण्डों को तुमने ऐसा समझना जैसे **स्रुचा**=चम्मच से यज्ञों में **हविषः**=घी डालना हो। आचार्य उन सब दण्डों को ज्ञान से प्रतितुलित कर देता है, अर्थात् ज्ञान देकर दण्ड के कष्ट को विस्मारित कर देता है। २. आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि हे **सादे**=शरीररूप रथ के उत्तम सञ्चालक शिष्य **महसा**=तेजस्विता से **शूकृतस्य**=शीघ्र शिक्षित किये हुए **ते**=तुझे **यत्**=जो **पाष्ण्र्या**=ऐड़ी से **वा**=अथवा **कशया**=(कशा वाङ्नाम-निघण्टौ) वाणी से झिड़कने के द्वारा **तुतोद**=मैंने कभी-कभी पीड़ित किया है, तूने यह स्पष्टरूप से समझ लेना कि **ता**=वे सब दण्ड तो इस प्रकार के हैं **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच से **हविषः**=हवि का **अध्वरेषु**=यज्ञों में प्रक्षपेण होता है। इन दण्डों के द्वारा तेरी वृत्ति को मैंने इधर-उधर से हटाकर ज्ञानप्रवण करने का प्रयत्न किया है। ३. इस प्रकार **ते**=तेरी **ता**=इन सब दण्ड-पीड़ाओं को मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञानादि के द्वारा **सूदयामि**=भ्रष्ट करता हूँ। तुझे इस प्रकार कड़े नियन्त्रण में रहने से प्राप्त हुआ ज्ञान सब पीड़ाओं को भुलानेवाला होता है। आचार्य दयानन्द ने 'सूदयामि' का अर्थ 'प्रापयामि' किया है। तब इस मन्त्रखण्ड का अर्थ यह होगा कि मैं **ता**=उन सब दण्डों को **ते**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से ही

सूदयामि=प्राप्त कराता हूँ। उन सब दण्डों का उद्देश्य एक ही होता है कि तू किसी प्रकार अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला बने। एवं, स्पष्ट है कि आचार्य अमृतयुक्त हाथों से दण्ड देते हैं, न कि विषसिक्त हाथों से।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को जो दण्ड देते हैं वह यज्ञ में स्रुवा से हवि के प्रक्षेपण के समान है। उसके द्वारा आचार्य विद्यार्थी के जीवन-यज्ञ में ज्ञान की आहुति देने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुस्त्रिँशत् वङ्क्री

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त॥४१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य से ठीक अनुशासन में चलाया हुआ विद्यार्थी जब 'स्वधिति' अपना धारण करनेवाला बनता है, अर्थात् इधर-उधर भटकता नहीं, अपने मन को एकाग्र करने में समर्थ होता है तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवबन्धोः**=दिव्य गुणों को अपने में बाँधनेवाले तथा उस **देव**=प्रभु के बन्धुभूत आचार्य के जो **अश्वस्य**=निरन्तर क्रिया में लगे रहते हैं और इस क्रियाशीलता के कारण जो 'वाजी व देवबन्धु' बने हैं, उनके **चतुस्त्रिंशत् वङ्क्रीः**=चौंतिस गूढ़ ज्ञानों (Knowledge) को **समेति**=प्राप्त होता है। वक् धातु गति वाचक है, 'गति' का प्रथम अर्थ ज्ञान है। ३३ देवों का ज्ञान यदि 'अपराविद्या' है तो ३४वें प्रभु (महादेव) का ज्ञान ही 'पराविद्या' है। मन्त्र संख्या ३९ में इन्हें ही 'वासः तथा अधिवासः' शब्द से स्मरण किया था। विद्यार्थी ज्ञान तभी प्राप्त कर पाता है जब वह एकाग्रवृत्ति का हो, 'स्वधिति' बने। आचार्य वही आदर्श है जो 'वाजी-देवबन्धु व अश्व' है। ज्ञेय वस्तुएँ ३३ देव ३४वें महादेव हैं। इनका ज्ञान ही क्रमशः अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक होता है। ३३ देवों का ज्ञान हमें शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाता है तो ३४वें महादेव का ज्ञान हमें आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करता है। ३. यह आचार्य **वयुना**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **गात्रा**=विद्यार्थी के सब अंगों को **अच्छिद्रा**=दोषरहित **कृणोतु**=करे। ३. वेद कहता है—हे विद्यार्थियो! तुम भी आचार्य से दिये हुए ज्ञान का **अनुघुष्य**=आचार्य के पश्चात् उच्चारण करके, अर्थात् आचार्य से उच्चारित ज्ञान को अनुघोषण द्वारा आत्मसात् करके **विपरुः परुः**=एक-एक पर्व के, जोड़ के दोष का **विशस्त**=छेदन करो (छिन्त—द०) और इस प्रकार अपने सारे क्षेत्रों को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करो। आचार्य की तुम्हें निर्दोष बनाने की यह साधना तुम्हारी अनुकूलता से ही सफल हो सकती है। विद्यार्थी की बनने की वृत्ति न हो तो आचार्य उसे कुछ बना नहीं सकते।

भावार्थ—१. एकाग्रता से विद्यार्थी आचार्य से दिये गये ३३ देवों व ३४वें महादेव के ज्ञान को प्राप्त करता है। २. ज्ञानपूर्वक कर्मों से आचार्य विद्यार्थी को निर्दोष बनाता है ३. विद्यार्थी को चाहिए कि आचार्य के इस पावनकार्य में अपनी अनुकूलता पैदा करे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

त्वष्टा-अश्व

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथऽऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥४२॥

१. गतमन्त्र के प्रकरण को ही चलाते हुए कहते हैं कि **एकः**=जीवन-निर्माण के कार्य में मुख्य भाग लेनेवाला (एके मुख्यान्यकेवलाः) आचार्य **त्वष्टुः**=(त्विष दीप्तौ) बुद्धि के दृष्टिकोण से सूर्य के समान (त्वष्टा-सूर्य) चमकनेवाले तथा **अश्वस्य**=शरीर में घोड़े के समान शक्तिवाले विद्यार्थी का **विशस्ता**=विशेषरूप से दोषों का छेदन करनेवाला होता है। २. **द्वा यन्तारा भवतः**=दो ही बातें निर्माण कार्य में नियामक होती हैं। आचार्य की सभी क्रियाएँ इन दो दृष्टिकोणों को लिये हुए होती हैं—(क) विद्यार्थी का मस्तिष्क **त्वष्टा**=सूर्य के समान देदीप्यमान बने और उसका शरीर **अश्व**=घोड़े के समान शक्तिशाली हो। ३. दो नियामक तत्त्वों के साथ **तथा**=उसी प्रकार **ऋतुः**=ऋतु भी नियामक होती है। स्पष्ट है गर्मी का कार्यक्रम वर्षाऋतु में कुछ परिवर्तित हो जाएगा और वर्षा में चलनेवाले कार्य को सर्दी में कुछ परिवर्तन करना होगा। पढ़ाई के समय में ऋतु-परिवर्तन के साथ परिपाक करना ही पड़ेगा। वास्तव में ऋतु के अनुसार की गई सब क्रियाएँ विद्यार्थी को नीरोग व निर्दोष बनानेवाली होंगी। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि—४. **या** जो मैं तेरे **गात्राणाम्**=अंगों के दोषों को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **कृणोमि**=दूर करने का प्रयत्न करता हूँ अथवा ऋतु के अनुसार अंगों के संस्कार का प्रयत्न करता हूँ तो **अग्नौ**=प्रगतिशील तुझे **ता-ता**=उन-उन **पिण्डानाम्**=बलों को (पिण्ड=might, strength, power) **प्रजुहोमि**=आहुत करता हूँ। इन्हें निर्दोष बनाने के लिए किये गये संस्कारों द्वारा तुझे प्रत्येक अंग में सशक्त करता हूँ। ५. वस्तुतः आचार्य का यज्ञ यही है कि वह विद्यारूप अग्नि में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिरूप हव्य की आहुति दे, विद्यार्थी को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी को 'त्वष्टा व अश्व' दीप्त व सबल बनाना है। इसके लिए वह ऋतुओं के अनुसार सब क्रियाओं को करता हुआ विद्यार्थीरूप अग्नि में बलों की आहुति देता है, अर्थात् उन्हें सर्वाङ्ग सबल बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन का अन्तिम दिन

मा त्वा तपत्प्रियऽआत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्वऽआ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब आचार्य विद्यार्थी का ठीक से निर्माण करता है, तब यह अपना जीवन इतना सुन्दर बिताता है कि शरीर को छोड़ते हुए इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के कारण इसे शरीर में इतनी आसक्ति नहीं होती कि वह उसे छोड़ते हुए अपनी मृत्यु समझे। आत्मतत्त्व के धारण से वह शरीर की वास्तविक स्थिति को जानता है, इस शरीर में ही पड़े रहने का उसका आग्रह नहीं होता। मन्त्र में कहते हैं कि २. **अपियन्तम्**=इस शरीर को छोड़कर जाते हुए तुझको अथवा ब्रह्म के साथ मेल करते हुए **त्वा**=तुझे प्राण **मा तपत्**=सन्तप्त न करे। तुझे प्राणों से पृथक् होने का कोई सन्ताप न हो। तू इन प्राणों से सहर्ष विदाई ले-सके। ३. **स्वधितिः**=आत्मतत्त्व का धारण, आत्मतत्त्व को समझना **ते**=तुझे **तन्वः**=शरीर का **मा आतिष्ठिपत्**=स्थापित करनेवाला न बनाये, अर्थात् शरीर के जाने से तू अपने को जाता हुआ न समझे। ४. परन्तु यह सब तभी होगा जब आचार्य ने तुझे प्रकृति-विज्ञान के साथ आत्मज्ञान को देने का प्रयत्न किया होगा, इसी प्रयत्न में उसने तुझे कभी-कभी दण्ड भी दिया होगा ('पाष्ण्र्या वा कशया वा तुतोद') परन्तु इसके विपरीत यदि आचार्य लोभवश हुआ और उत्तमता से दोषों को दूर

करनेवाला न हुआ तब तो तेरे जीवन के अन्तिम दिन का दृश्य इससे विपरीत होगा। तू मृत्यु से घबरा रहा होगा और तुझे देह से पृथक् होने में आत्मविनाश की प्रतीति हो रही होगी, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **गृध्नुः**=धन के विषय में लोभवाला **अविशस्ता**=उत्तम उपदेशों द्वारा दोषों का छेदन न करनेवाला, अर्थात् उत्तम उपदेश न देनेवाला कोई आचार्य **छिद्राणि अतिहाय**=दोषों को छोड़कर, अर्थात् बिना ही दोषों के **मिथू**=यों ही झूठ-मूठ **गात्राणि**=तेरे अङ्गों को **असिना कः**=तलवार से छिन्न न करे (अन्यथा मा छिदत्—म०) अर्थात् तुझे सदा वह ज्ञानादि की उन्नति के लिए उचित दण्ड देनेवाला हो। तुझसे धन लेने के लिए तुझे यूँ ही दण्डित न करे।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके हम अपने स्वरूप को समझें। जीवन के अन्तिम दिन प्राणों से वियोग हमें पीड़ित करनेवाला न हो। यह होगा तब यदि अपने ब्रह्मचर्यकाल में हमें अलोभी, उचित दण्ड व ज्ञान-प्रदान से दोषों को दूर करनेवाला आचार्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मर्त्यलोक से देवलोक में

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषतीऽअभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य॥४४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अगृध्नु तथा विशस्ता' अलोभी व दोषों से दूर करनेवाले आचार्य के मिलने पर विद्यार्थी का जीवन इतना सुन्दर बनता है कि इस शरीर के छोड़ने पर उसे अगला शरीर मिलता है तो अधिक उत्तम ही मिलता है, अतः वह मृत्यु के दिन अपने को ही इस रूप में प्रेरणा देता है कि तू **वा उ**=निश्चय से **एतत्**=यह **न म्रियसे**=मर थोड़े ही रहा है। यह शरीर से अलग होने की प्रक्रिया तेरी मृत्यु नहीं है, क्योंकि उत्तम शिक्षित होकर तू **सुगेभिः पथिभिः**=सरल मार्गों से, छल-छिद्र व कुटिलता के मार्गों से दूर रहकर चलता हुआ **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों के ज्ञान को प्राप्त होता है, अर्थात् इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर देवलोक में जन्म लेता है। २. यह देवलोक को प्राप्त होना तेरा निश्चित ही है, क्योंकि **ते**=तेरे **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक व कर्मेन्द्रिय पञ्चकरूप घोड़े **युञ्जा**=सदा योगयुक्त होने का प्रयत्न करते रहे और अतएव **पृषती**=(पृष् to sprinkle) अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन करनेवाले तथा (पृष् to give) ज्ञान का प्रसार करनेवाले **अभूताम्**=हुए और ३. यह भी इसलिए हुआ कि **रासभस्य धुरि**=(रास् शब्दे) शब्दों द्वारा ज्ञान देनेवाले अध्यापकों ने अग्रभाग में, मुख्यस्थान में **वाजी**=शक्तिशाली, त्याग की वृत्तिवाला, ज्ञानी व क्रियाशील आचार्य **उपास्थात्**=तुझे प्राप्त हुआ (**वाज**=शक्ति, त्याग, ज्ञान, क्रिया)। इस प्रकार के आचार्य के प्राप्त होने का ही यह परिणाम है कि तेरा जीवन बड़ा सुन्दर बना, तेरी इन्द्रियाँ विषयों में न भटकीं, अतः अब तुझे उत्तम देवलोक ही प्राप्त होगा। शरीर से पृथक् होने में कोई घाटे का सौदा नहीं। यह मृत्यु है ही नहीं। यह तो निचली श्रेणी से ऊपर जाने के समान है। मर्त्यलोक से देवलोक में जाना है, उन्नति है, नकि अवनति, Promotion है नाकि Demotion, अतः यह तो हर्ष का विषय है, मृत्यु सुख है नकि दुःख।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीर को छोड़ता हुआ इस प्रकार आत्मप्रेरणा देता है कि "तू मर थोड़े ही रहा है, तू ह्रास को नहीं प्राप्त हो रहा। सरल मार्ग से जीवन बिताकर तू देवलोक को प्राप्त करेगा। तेरी इन्द्रियाँ योगयुक्त तथा अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन

करनेवाली बनें और यह सब इस कारण कि तुझे शब्दज्ञान देनेवाले उपाध्यायों का अग्रणी आचार्य बड़ा ज्ञानी, त्यागी व शक्तिशाली प्राप्त हुआ। उस आचार्य की कृपा से तेरा जीवन सुन्दर बना और परिणामतः तुझे देवलोक प्राप्त होने लगा है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

इहलोक का उत्कर्ष

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुꣳसः पुत्राँ२॥ऽउत विश्वापुषꣳरयिम्।
अनागास्त्वं नोऽअदितिः कृणोतु क्षत्रं नोऽअश्वो वनताꣳहविष्मान्॥४५॥

१. गतमन्त्र में आचार्य को **वाजी**=ज्ञानी, शक्तिशाली व क्रियाशील कहा है। यह **वाजी**=ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न आचार्य जोकि **अदितिः**=हमारा खण्डन न होने देनेवाला है, वह उत्तम ज्ञान देकर **नः**=हमारी **सुगव्यम्**=(गाव ज्ञानेन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रियों की उत्तमता को, **स्वश्व्यम्**=(अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि) कर्मेन्द्रियों की उत्तमता को, **पुंसः पुत्रान्**=पुरुषार्थ साधक पुरुषों व पुत्रों को, वीरता के द्वारा अपनी पवित्रता को सिद्ध करनेवाले पुत्रों को **उत**=और **विश्वापुषम् रयिम्**=सबका पोषण करनेवाले धन को, जिस धन के द्वारा हम केवल अपना ही पोषण न करके औरों का भी पोषण करते हैं और, **अनागास्त्वम्**=(अनागस्त्वम्—म०) निष्पापता को **कृणोतु**=करे। आचार्य की कृपा से हम 'उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले, वीर पुत्रोंवाले, सबका पोषण करनेवाले धन से युक्त और अतएव निष्पाप जीवनवाले' बनें। २. **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला, **हविष्मान्**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला यह आचार्य **नः**=हमारे लिए **क्षत्रम्**=क्षत से त्राण करनेवाले बल को **वनताम्**=प्राप्त कराए (वनताम्=करोतु—उ०)। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवन बितानेवाला ही ४४वें मन्त्र के अनुसार हर्षपूर्वक शरीर को छोड़ पाता है। उसका यह जीवन तो सुन्दर बीतता ही है, उसे अगला लोक भी उत्तम प्राप्त होता है। एवं, आचार्य का दिया हुआ ज्ञान इसकी इहलौकिक व पारलौकिक उभयविध उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—आचार्य 'वाजी, अदितिः, अश्व व हविष्मान्' होता है तो वह विद्यार्थी को 'सुगव्य, स्वश्व्य, वीरतायुक्त, सर्वपोषक धन, निष्पापता व क्षत्र-बल' को प्राप्त करानेवाला बनता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**।

स्वर्ग का निर्माण

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति॥४६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम शिक्षा द्वारा उत्तम जीवनवाला बनके जब विद्यार्थी समावृत्त होकर संसार में आता है तब वह कहता है कि **नु**=अब (now) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=तथा **विश्वेदेवाः**=संसार की सभी दिव्य शक्तियाँ ऐसी कृपा करें कि हम मिलकर **इमा भुवना**=इन लोकों को, जिनमें कि हमारा निवास है, **कं सीषधाम**=सुखमय सिद्ध करें। अपने निवासस्थानभूत लोकों को हम स्वर्गतुल्य बनानेवाले हों। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर को स्वर्ग बनाये, प्रत्येक सभ्य समाज को सुन्दर बनाने का ध्यान करे। प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को स्वर्ग बनाने का निश्चय करे। २. **इन्द्रः**=सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण

करनेवाला प्रभु **सगणः**=इन सब प्राकृतिक शक्तिरूप देवगणों के साथ—**विश्वेदेवाः**'=सब देवों के साथ—विशेषकर **आदित्यैः**=वर्ष में संक्रान्तियों के कारण १२ नामोंवाले आदित्यों के साथ तथा **मरुद्भिः**=४९ प्रकार की वायु के साथ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **भेषजा**=रोगनिवारक औषधों को **करत्**=करे, अर्थात् (क) प्रभु स्मरण के द्वारा, (ख) प्राकृतिक शक्तियों के अनुकूल वर्तन से, (ग) सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहने से तथा (घ) अधिक-से-अधिक खुली वायु में विचरने से हम स्वस्थ जीवनवाले बनने का प्रयत्न करें। वस्तुतः लोक को स्वर्ग बनाने के लिए सबसे अधिक यही बात आवश्यक है। स्वर्ग-निवासी देव अजर व अमर हैं। वे जीर्णशक्ति व रोगों के शिकार नहीं होते। हम भी प्रस्तुत चारों उपायों का प्रयोग करते हुए स्वस्थ बनें और प्रार्थना करें—**इन्द्रः**=ज्ञान के प्रकाश का सूर्य प्रभु अथवा ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **अदित्यैः सह**=ज्ञान-विज्ञान का आदान करनेवाले सब विद्वानों के साथ, अर्थात् इन विद्वानों द्वारा **नः**=हमारे जीवनों में **यज्ञम् च**=यज्ञरूप उत्तम कर्मों को **तन्वं च**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के लिए तथा **प्रजां च**=प्रजा को **सीषधाति**=सिद्ध करें। प्रभुकृपा से हमें उन ज्ञानी विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो जिनके ज्ञान को सुनकर हम इस संसार में यज्ञों के करने, शक्तियों को विस्तृत करने तथा उत्तम प्रजा के निर्माण में ही लगे रहें। ऐसा होने पर क्या हमारा यह लोक सुखमय न होगा?

भावार्थ—प्रभु व प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में चलकर हम अपने लोक को स्वर्ग बनाएँ। प्रभु का उपासन, प्राकृतिक नियमों का पालन, सूर्य सम्पर्क में निवास व शुद्ध वायु के सेवन से हम स्वस्थ बनें। प्रभु के उपासन व ज्ञानी विद्वानों के संग से हममें वह ज्ञान की ज्योति जगे जिससे हमारे कर्म यज्ञात्मक हों, हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें तथा उत्तम ज्ञान का निर्माण करनेवाले बनें। अपने लोक को स्वर्ग बनाने का यही मार्ग है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

'गोतम' की प्रार्थना

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिं दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने लोक को स्वर्ग बनाने की कामनावाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अधिक-से-अधिक समीप हो **उत**=और **त्राता**=हमें रोगों व वासनाओं से रक्षित करनेवाले हो। इस प्रकार **शिवः भव**=आप हमारे लिए कल्याणकारी होते हो। **वरूथ्यः**=(वरूथ आच्छादन) आप हमारे उत्तम आच्छादन व गृह हो अथवा आप ही हमें उत्तम धन देनेवाले हो (वरूथ=wealth)। २. **वसुः**=आपकी कृपा से हमारा निवास उत्तम होता है, **अग्निः**=आप हमारी सब उन्नतियों को सिद्ध करते हैं। **वसुश्रवा**=आप ही निवास के लिए आवश्यक धन व ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **अच्छ नक्षि**=आप हमारी ओर आते हैं (नक्ष गतौ) यह कितनी सौभाग्य की बात है कि (You knock at our door) आप हमारे दरवाज़े को थपथपाते हैं और यदि हम उस ब्रह्ममुहूर्त में सोये ही नहीं रह जाते, अपितु उठकर दरवाज़ा खोलते हैं तो आप **द्युमत्तमं रयिं दाः**=हमें अत्यन्त दीप्तियुक्त धन देते हैं, अर्थात् आपकी कृपा से हमें वह धन प्राप्त होता है, जिस धन के साथ ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का निवास है। हे **शोचिष्ठ**=

हमारे हृदयों को अधिक-से-अधिक शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए अथवा **सुम्न**=Hymn स्तोत्रों के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। हम यह चाहते हैं कि हमारा जीवन सदा आपके स्तवन से युक्त हो, और साथ ही **सखिभ्यः**=समान ज्ञानवाले मित्रों के लिए पार्थना करते हैं, आपकी कृपा से हमें ज्ञानी मित्र मिलते रहे, जिससे हम इस संसार-यात्रा में कभी फिसल न जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीपतम मित्र हैं। प्रभु हमारे समीप आते हैं और यदि हम प्रभु के स्वागत के लिए उद्यत होते हैं तो ज्योतिर्मय धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनें और ज्ञानी मित्रों को प्राप्त करें।

सूचना—अपने लोक को स्वर्गलोक बनाना ही सच्चा 'अश्वमेध' है। यहाँ अश्वमेघ यज्ञ समाप्त होता है। अगला अध्याय 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य' ऋषि के मन्त्र से प्रारम्भ होता है। यह ऋषि 'दीदिवस्' प्रभु की कृपा से 'विवस्वान्'=ज्ञान की किरणोंवाला बना है और 'शोचिष्ठ' प्रभु की कृपा से सदा यज्ञों में वसानः=गति करनेवाला याज्ञवल्क्य हुआ है। यह प्रार्थना करता है—

इति पञ्चविंशोऽध्यायः॥